
प्रवचन नं. ८ आलोचना अधिकार १-३३, विक्रम संवत् २०२१, भाद्र शुक्ल ४
सोमवार, दिनांक ३०-०८-१९६५

यह एक 'पद्मनन्दि आचार्य' लगभग नौ सौ वर्ष पहले दिगम्बर मुनि हुए हैं। उन्होंने जंगल में आलोचना का अधिकार (लिखा है)। बहुत आध्यात्मिक आलोचना है। मानो जैसे भगवान के समीप बैठकर अपने परिणाम को परख रहे हों और स्वयं के कैसे परिणाम हैं, उसे देखते हों; इस प्रकार आलोचना की है। आलोचन अर्थात् देखना। आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है, उसमें कितने रागादि हुए, कितने नाश हुए, उन्हें उस भूमिका के योग्य राग क्यों नहीं हुआ या कितना हुआ—उसका ज्ञान करना और विचार करके वस्तु में स्थिर होना, उसे आलोचना कहते हैं।

'ॐ श्री पद्मनन्दि आचार्य विरचित पद्मनन्दि पंचविंशतिका में से, ... छब्बीस अधिकार हैं। आलोचना का नौवाँ अधिकार है। छब्बीस अधिकार में नौवाँ अधिकार। हिन्दी में से गुजराती अनुवाद।

श्री पद्मनन्दि आचार्य आदि मंगल से... पहला मांगलिक शुरु करते हैं। आलोचना अधिकार की शुरुआत करते हैं।

अर्थ : हे जिनेश! हे प्रभो! यदि सज्जनों का मन अन्तरंग तथा बहिरंग मल से रहित होकर, तत्त्वस्वरूप तथा वास्तविक आनन्द के निधान आपको, अवगाहन (आश्रयण) करता है... यह तो अलौकिक आलोचना है, हों! अध्यात्म आलोचना है। आलोचना का पूरा अर्थ तो एक बार हो गया है। यह तो एक ही घण्टे में पूरा पढ़ना है। और यदि उनके मन में आपके नाम का स्मरणरूप... सर्वज्ञस्वरूपी आत्मा, ऐसे परमात्मा हुए, उनका जिनको स्मरणरूप। अनन्त प्रभा का धारी महामन्त्र मौजूद है तथा आप से प्रगट किए हुए... आपके द्वारा - जिनेश्वर ने कहा ऐसा — सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूपी मोक्षमार्ग में यदि उनका आचरण हो तो उन सज्जनों को... सत् जन को, अभीष्ट की प्राप्ति में विघ्न किसका हो? मांगलिक किया। भगवान! आपके मार्ग में चढ़े और आपका मार्ग लिया, उसे कदापि विघ्न नहीं हो सकता।

इस मार्ग / पंथ पर चढ़े हैं तो इस पंथ का प्रयाण हमारा पूरा होगा — ऐसा करके पहले मांगलिक किया।

भावार्थ : यदि सज्जनों के मन में आपको ध्यान होवे... वीतराग-सर्वज्ञ परमात्मा, ऐसे आत्मा, व्यक्तरूप से परमात्मा हुए, उनका ध्यान हो। आपका नाम स्मरणरूप महामन्त्र मौजूद होवे और यदि वे मोक्षमार्ग में गमन करनेवाले होवें तो उनके अभिलाषित की... अर्थात् स्वयं की इच्छित प्राप्ति में किसी प्रकार का विघ्न नहीं आ सकता।

अब आचार्यदेव स्तुति द्वारा, कौन देव हो सकता है? केवलज्ञान की प्राप्ति का क्रम कैसा होता है? इसका वर्णन करते हैं।

२. अर्थ : हे जिनेन्द्रदेव! संसार के... देखो! केवलज्ञान की प्राप्ति कैसे हो, इसका उपाय क्या (है)? यह आलोचना करनेवाले जानते हैं। हे जिनेन्द्रदेव! संसार के त्याग के लिये परिग्रहरहितपना... बाह्य से बात की; अभ्यन्तर में रागरहितपना और समता... अर्थात् वीतरागता। सर्वथा कर्मों का नाश... यह नास्ति से बात की; और रागरहितपना, यह अस्ति से की है, वीतराग अस्ति से की। प्रभु! अब कर्म के नाश से क्या हुआ आपको?

अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्यसहित समस्त लोकालोक को प्रकाश करनेवाला केवलज्ञान, ऐसा क्रम आपको ही हुआ था...देखो! देव को पहचाननेवाले, देव कैसे हुए, उसका ज्ञान उनको होता है। इसके अलावा कुदेव का ज्ञान उनको छूट गया है। यह देव का प्रायश्चित्त करते हैं कि देव तो ऐसे होते हैं; इनके अलावा कोई देव नहीं हो सकता। किन्तु आपसे भिन्न किसी... देखो! नास्ति, अनेकान्त करते हैं। आपसे भिन्न किसी देव को यह क्रम प्राप्त नहीं हुआ... दूसरे चाहे कितनी ही बातें करते हों परन्तु हे नाथ! केवलज्ञान प्राप्त करने का यह क्रम आपको ही प्राप्त हुआ है, अन्य को यह हो ही नहीं सकता। क्यों? कि आप ही शुद्ध हैं तथा आपके चरणों की सेवा... अर्थात् आपके कहे हुए दर्शन-ज्ञान, शान्ति की सेवा ही सज्जनों पुरुषों को करनायोग्य है.... यह प्रायश्चित्त लेते हैं कि, इनके अतिरिक्त कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र की जो मान्यता

हो, वह हमारा निष्फल हो। ऐसे देव को हम माननेवाले हैं, जिनको क्रम से दिव्य शक्ति की प्राप्ति हो गयी है।

भावार्थ : हे भगवन्! आपने ही संसार से मुक्त होने के लिये समस्त परिग्रह का त्याग किया है... देखा? वस्त्र, पात्र आदि तो सर्वज्ञ को; मुनि होते हैं, तभी से नहीं होते। तथा रागभाव को छोड़ा है और समता को... अर्थात् वीतरागता को धारण की है। अनन्त विज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य आपके ही प्रकट हुए हैं, इसलिए आप ही शुद्ध तथा सज्जनों की सेवा के पात्र हैं। अन्य कोई पात्र नहीं है।

सेवा का दृढ़ निश्चय और प्रभु सेवा का माहात्म्य :—

३. अर्थ : हे त्रैलोक्यपते! यदि मेरे निश्चय से आपकी सेवा में दृढ़पना है तो मुझे अत्यन्त बलवान भी संसाररूपी वैरी का जीतना कोई कठिन बात नहीं क्योंकि जिस मनुष्य ने जल के वर्षण से हर्ष जनक... जल के वर्षण से हर्ष जनक उत्तम फव्वारा सहित घर को प्राप्त कर लिया है, उस पुरुष का जेठमास का अत्यन्त तीक्ष्ण दुपहर का ताप कुछ कर सके वैसा है? कुछ नहीं कर सकता। आपके स्वभाव का निर्णय किया कि, आप वीतराग हैं, सर्वज्ञ हैं - ऐसा आपके भाव का मैंने निर्णय किया तो अब ये कर्म के उदय का आताप हमें क्या कर सकता है? कोई हमें पीछे हटा नहीं सकता।

भावार्थ : हे तीन लोक के ईश! जिस प्रकार शीतल जल द्वारा उड़ते फव्वारा से सुशोभित उत्तम घर में बैठे हुए पुरुष को जेठमास की अत्यन्त कठोर भी दुपहर की अत्यन्त गर्मी भी कुछ नहीं कर सकती, उसी प्रकार मैं निश्चय से आपकी सेवा में दृढ़ रीति से स्थित हूँ तो मुझे बलवान संसाररूपी वैरी कुछ भी त्रास नहीं दे सकता।

भेदज्ञान द्वारा साधकदशा :—

देखो! धर्मी की साधकदशा कैसी होती है, इसका भान आलोचना करनेवाले को होता है। इससे विरुद्धभाव का उनको नाश हो गया होता है।

४. अर्थ : भगवान! यह पदार्थ साररूप है और यह पदार्थ असाररूप है; इस प्रकार सारासार की परीक्षा में एकचित्त होकर जो कोई बुद्धिमान मनुष्य तीनों

लोक के समस्त पदार्थों का... देखो! अनन्त पदार्थ हैं, बुद्धिमान उसकी परीक्षा करनेवाला है - ऐसा यह सब सिद्ध करते हैं। बाधारहित गहरी दृष्टि से विचार करता है... बाधारहित गहरी दृष्टि से विचार करता है तो उस पुरुष की दृष्टि में, हे भगवन्! आप ही एक साररूप पदार्थ हैं... वीतराग विज्ञानघन आत्मा ही साररूप दिखता है, इसके अतिरिक्त कोई सार नहीं दिखता। आपसे भिन्न समस्त पदार्थ असाररूप ही हैं; अतः आपके आश्रय से ही मुझे परम सन्तोष हुआ है।

अब आचार्यदेव पूर्ण साध्य का वर्णन करते हैं :—

साधक कहा। अब पूर्ण साध्य-साधक का फल (वर्णन करते हैं)।

५. अर्थ : हे जिनेश्वर, समस्त लोकालोक को एक साथ जाननेवाला आपका ज्ञान है... देखो! आलोचना कर्ता को यह भान होता है। यह सर्वज्ञ स्वभाव और उसके एक समय का ज्ञान तीन काल, तीन लोक को सामान्य विशेष को एक समय में जाननेवाला होता है। (ऐसा) आपका ज्ञान है। समस्त लोकालोक को एक साथ देखनेवाला आपका दर्शन है और आपको अनन्त सुख और अनन्त बल है तथा आपकी प्रभुता भी अतिशयकर निर्मल है और आपका शरीर... देखो! शरीर देदीप्यमान है... आपका आत्मा तो पवित्र है ही, किन्तु (आपका) शरीर भी परम औदारिक हो गया है। देखो! भगवान का शरीर स्फटिक जैसा होता है। उनके (शरीर में) रोग हो या साधारण शरीर हो - ऐसा नहीं बनता। (यदि ऐसा हो) तो वहाँ पुण्य की कमी है, (परन्तु) जहाँ पूर्ण पवित्रता, वहाँ पुण्य भी पूरे-पूर्ण ही होता है। उनका परम औदारिक शरीर स्फटिक जैसा हो जाता है। इसीलिए निश्चय और व्यवहार-पुण्य और पवित्रता - दोनों की व्याख्या करते हैं।

इसलिए यदि योगीश्वरों ने समीचीन योगरूपी नेत्र से... देखो! आगे कहा है। तीर्थकर प्रभु का शरीर परम औदारिक और स्फटिक रत्न जैसा निर्मल होने से देदीप्यमान होता है। जो योगीश्वर अर्थात् अन्तर की दृष्टि करनेवाले, जोड़नेवाले। योग में ईश्वर अर्थात् आत्मा के स्वभाव में जुड़ान करने में भी ईश्वर। ऐसे सम्यक् योगरूप-सच्ची श्रद्धा, ज्ञान, शान्ति के सम्बन्धित योग से आपको प्राप्त कर लिया तो क्या तो उन्होंने जान न

लिया ? और क्या उन्होंने देख न लिया ? तथा क्या उन्होंने पा न लिया ? (अर्थात् सब कर लिया) । आहाहा ! (यदि) सर्वज्ञ को जाना, अरिहन्त को जाना (पहचाना) तो मेरा आत्मा भी ऐसा ही है, इसका ज्ञान हुए बिना रहे नहीं । महाराज ! आपको जाननेवाला सब जान लेता है ।

भावार्थ : यदि योगीश्वरों ने अपनी उत्कृष्ट... ऐसी आलोचना ये दिगम्बर सन्त कह सके या कर सके; ऐसी आलोचना अन्य कहीं नहीं है । ऐसे जंगल में बसनेवाले सन्तों ने आलोचना की है लेकिन ऐसी अलौकिक की है ! योगीश्वरों ने अपनी उत्कृष्ट योगदृष्टि से अनन्त गुणसम्पन्न आपको देख लिया... देखो ! अनन्त गुणसम्पन्न । तो उन्होंने सब कुछ देख लिया और सब कुछ जान लिया तथा प्राप्त कर लिया ।

पूर्ण प्राप्ति का प्रयोजन :—

आत्मा, सर्वज्ञता को प्राप्त हो, उसका प्रयोजन ।

६. अर्थ : हे जिनेन्द्र ! आपको ही मैं तीन लोक का स्वामी मानता हूँ... अर्थात् जाननेवाला । आपको ही जिन अर्थात् अष्टकर्मों का जीतनेवाला तथा अपना स्वामी मानता है और केवल आपको ही भक्तिपूर्वक नमस्कार करता हूँ और सदा आपका ही ध्यान करता हूँ तथा आपकी ही सेवा और स्तुति करता हूँ... दूसरों की नहीं—ऐसे इसमें से नास्ति ले लेना । और केवल आपको ही मैं अपना शरण मानता हूँ । अधिक कहने से क्या ? यदि कुछ संसार में प्राप्त होवे तो यही होवे कि आपके सिवाय अन्य किसी से भी मेरा प्रयोजन न रहे । वीतरागभाव के अलावा अन्य कोई मेरा प्रयोजन न रहे - ऐसी साधक की आलोचना में प्रार्थना है ।

भावार्थ : हे भगवन् ! आपसे ही मेरा प्रयोजन रहे... अर्थात् वीतरागभाव के साथ ही प्रयोजन रहे और आपसे भिन्न... रागादि अन्य से मेरा किसी प्रकार का प्रयोजन न रहे, यह विनयपूर्वक प्रार्थना है ।

अब आचार्यदेव आलोचना का प्रारम्भ करते हैं :—

छह गाथा में तो भक्तिपूर्वक परमात्मा को दृष्टि में सिद्ध किया और अब पाप और पुण्य की आलोचना करते हैं ।

७. अर्थ - हे जिनेश्वर! भूतकाल में जो पाप मैंने भ्रम से मन-वचन-काय के द्वारा दूसरों से कराये हैं तथा स्वयं किये हैं और दूसरों को पाप करते हुए अच्छा कहा है तथा... ये सब अस्तिरूप में स्थापित करते हैं। पूर्व काल में ये सब मैंने किया था। तथा उसमें अपनी सम्मति दी है... अनुमोदन। और वर्तमान में जो पाप मैं मन-वचन-काय के द्वारा दूसरों से कराता हूँ तथा स्वयं करता हूँ और अन्य को करते हुये भला कहता हूँ... ये जितना रागादि हों, उस अपेक्षा से जानना। और भविष्य काल में जो मैं मन-वचन-काय से पाप कराऊँगा... अर्थात् जितना भी शुभराग आदि, पुण्य आदि, भाव हो वह सब परमार्थ से अन्तर में (वास्तव में) पाप है। स्वयं पाप करूँगा और पाप करते हुए दूसरे को अनुमोदूँगा, वे समस्त पाप आपके समक्ष... ज्ञातादृष्टा के, स्वभाव के लक्ष्य में रहकर, स्वयं निन्दा-गर्हा करनेवाला ऐसा मैं, उसके सर्व पाप सर्वथा मिथ्या हो। समझ में आया ?

भावार्थ : हे जिनेश्वर! भूत भविष्यत् वर्तमान तीनों काल में जिन पापों का मैंने मन-वचन-काय तथा कृत-कारित-अनुमोदना से उपार्जन किया है तथा करूँगा और करता हूँ, उन समस्त पापों का अनुभव कर, मैं आपके सामने अपनी निन्दा करता हूँ; इसलिए वे समस्त पाप मेरे मिथ्या हो। अर्थात् पर्याय में नहीं रहो।

आचार्यदेव, प्रभु की अनन्त ज्ञान, दर्शन शक्ति का वर्णन करते हुए आत्मशुद्धि हेतु आत्मनिन्दा करते हैं :—

८. अर्थ : हे जिनेन्द्र! यदि आप भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों कालों के गोचर अनन्त पर्यायोंसहित लोक तथा अलोक को सर्वत्र एकसाथ जानते हो तथा देखते हो तो, हे स्वामिन्! मेरे एक जन्म में होनेवाले पापों को क्या आप नहीं जानते हो ? अर्थात् अवश्य ही जानते हो; इसलिए अपने को स्वयं निन्दता हुआ जो मैं आपके सामने अपने दोषों का कथन (आलोचन) करता हूँ, सो केवल शुद्धि के लिये ही करता हूँ। देखो! आलोचना भी निष्कपटता से, सरलता से जैसे बालक अपनी माता के पास अपने दोष कहता है, वैसे भगवान या श्रीगुरु के पास स्वयं सरलता से, बालकपने से कहे, उसे आलोचना कहा जाता है।

भावार्थ : हे भगवन्! जब आप अनन्त भेदसहित लोक तथा अलोक को एकसाथ जानते हो तथा देखते हो तो आप मेरे समस्त दोषों को भी भलीभाँति जानते हो... अर्थात् जानते ही हो। फिर भी जो मैं आपके सामने अपने दोषों का कथन (आलोचना) करता हूँ, सो केवल आपके सुनाने के लिये नहीं किन्तु शुद्धि के लिये... मेरे शुद्ध स्वभाव के लक्ष्य से आलोचना करता हूँ।

अब आचार्यदेव, भव्य जीवों को उनके आत्मा को तीन शल्यरहित रखने का बोध देते हैं :—

माया, निदान, मिथ्यात्वशल्य हो, तब तक उसे व्रतादि नहीं हो सकते। 'निःशल्यो व्रती'। मिथ्यादर्शन, मिथ्याशल्य हो, तब तक समकित नहीं और निदान आदि के दो शल्य हो, तब तक व्रत नहीं। समझ में आया ?

९. अर्थ : हे प्रभो! देखो! कैसी स्तुति करते हैं! व्यवहारनय को आश्रय करनेवाला... और हमें महाव्रत आदि व्यवहारनय का आश्रय है। पंच महाव्रत आदि होते हैं, वह। मूलगुण तथा उत्तरगुणों को धारण करनेवाले मुझ जैसे मुनि को जिस दूषण का सम्पूर्ण रीति से स्मरण है... ज्ञान में पता है। कहाँ, कैसा दोष हुआ, वह सब ज्ञान में पता है।

उस दूषण की शुद्धि के अर्थ आलोचना करने के लिये मैं आपके सामने सावधानी से बैठा हुआ हूँ, क्योंकि ज्ञानवान भव्यजीवों को सदा अपना हृदय माया, मिथ्या, निदान इन तीनों शल्योंकर रहित ही रखना चाहिए। ऐसे शल्यसहित हो, उसको जैसे लोहे के बाण अन्दर सड़े और कलेजा सड़ जाये, वैसे तीन शल्य में से कोई भी एक शल्य भीतर में रह जाये तो उसका आत्मा सड़कर बिगड़ जाये। समझ में आया ?

स्वभाव की सावधानी :—

१०. अर्थ : हे भगवन्! इस संसार में समस्त जीव बारंबार असंख्यातलोक प्रमाण प्रगट तथा अप्रगट नाना प्रकार के विकल्पों सहित हैं... शुभ और अशुभ परिणाम दोनों; शुभ और अशुभ दोनों कहा न ? असंख्यात् लोकप्रमाण प्रगट तथा अप्रगट नाना प्रकार के विकल्पसहित होते हैं। देखो! नीचे (फुटनोट में) शुभ-अशुभभाव कहे हैं।

ये जीव जितने प्रकार के विकल्पों सहित हैं, उतने ही नाना प्रकार के दुःखों सहित भी है... जितने प्रकार के शुभ-अशुभ विकल्प हैं, राग के शुभ-अशुभभाव हैं, वे सब दुःखरूप हैं। किन्तु जितने विकल्प हैं, उतने प्रायश्चित्त शास्त्र में नहीं हैं... इतने शास्त्रों में कहे कैसे? असंख्य प्रकार के शुभ-अशुभ परिणाम (को बताने के लिए) असंख्य शब्द हो ही नहीं सकते; शब्द तो संख्यात ही होते हैं। इसलिए उन समस्त असंख्यात लोकप्रमाण विकल्पों की शुद्धि आपके समीप में ही होती है। अर्थात् कि भगवान् आत्मा के समीप ही उन विकल्पों का नाश हो जाता है।

भावार्थ : यद्यपि दूषणों की शुद्धि प्रायश्चित्त के करने से होती है, किन्तु हे जिनपते! जितने दूषण हैं, उतने प्रायश्चित्त शास्त्र में नहीं कहे गये हैं; इसलिए समस्त दूषणों की शुद्धि आपके समीप में ही होती है।

पर से परान्मुख होकर स्व की प्राप्ति :—

११. अर्थ : हे देव! समस्त प्रकार के परिग्रहों से रहित और समस्त शास्त्रों का जाननेवाला तथा क्रोधादिकषायों से रहित, शान्त और एकान्तवासी जो भव्यजीव समस्त बाह्य पदार्थों से मन तथा इन्द्रियों को हटाकर तथा अखण्ड और निर्मल सम्यग्ज्ञान की मूर्तिरूप आपमें स्थिर होकर, आपको ही देखता है, वह मनुष्य आपकी समीपता को प्राप्त होता है।

स्वभाव की एकाग्रता से उत्तमपद-मोक्ष की प्राप्ति :—

१२. अर्थ : हे अर्हत् प्रभु! पूर्व भव में कष्ट से संचय किये हुए बड़े भारी पुण्य से जिस मनुष्य ने तीन लोक के पूजनीक आपको पा लिया है, उस मनुष्य को उस उत्तमपद की प्राप्ति होती है, जिसको निश्चय से ब्रह्मा, विष्णु आदि भी नहीं पा सकते। हे नाथ! मैं क्या करूँ? आप में एकचित्त करने पर भी हुआ भी मेरा चित्त... देखो! यहाँ मन का प्रायश्चित्त करते हैं, मन थोड़ा अस्थिर हो जाता है उसका। मेरा मन प्रबल रीति से बाह्य पदार्थों की ओर ही दौड़ता है, यह बड़ा खेद है। शुभाशुभ विकल्प उठते हैं, यही बड़ा खेद है। आहा..हा..!

मोक्ष हेतु वीर्य का वेग :—

१३. अर्थ : हे जिनेश! यह संसार तो नाना प्रकार के दुःखों का देनेवाला है

जबकि वास्तविक सुख का देनेवाला तो मोक्ष है... अर्थात् आत्मा की सम्पूर्ण निर्मलदशा। इसलिए उसी मोक्ष की प्राप्ति के लिये हमने समस्त धनधान्य आदि परिग्रहों का त्याग किया... मुनि स्वयं अपनी बात करते हैं। तपोवन (तप से पवित्र भूमि) में वास किया... जंगल में भी वास किया। समस्त प्रकार का संशय भी छोड़ दिया तथा अत्यन्त कठिन व्रत भी धारण किये किन्तु अभी तक उन कठिन व्रतों के धारण करने से भी सिद्धि की प्राप्ति नहीं हुई... स्वयं की अपूर्णता की आलोचना-खेद करते हैं। क्योंकि प्रबल पवन के समूह से कँपाये हुवे पत्ते के समान... ओहो.. ! प्रभु! हमारा मन अस्थिर होता है। कैसे सिद्धि हो ? आहा..हा... ! हमारा मन रात-दिन बाह्य पदार्थों में भ्रमण करता रहता है। उसे मनरहित होकर केवलज्ञान कब होगा ?

मन को संसार का कारण जानकर पश्चाताप :—

१४. अर्थ : हे भगवन्! जो मन, बाह्य पदार्थों को मनोहर मानकर उनकी प्राप्ति के लिये जहाँ-तहाँ भटकता है, जो ज्ञानस्वरूपी आत्मा को बिना प्रयोजन सदा अत्यन्त व्याकुल करता रहता है तथा जो इन्द्रियरूपी गाँव को बसानेवाला है... मन हो तो इन्द्रिय का लक्ष्य होता है। मन बिना इन्द्रिय के प्रति लक्ष्य नहीं जाता। (अर्थात् इस मन की कृपा से ही इन्द्रियों की विषयों में स्थिति होती है) और जो संसार के पैदा करनेवाले कर्मों का परममित्र मन है... आहा...हा... ! अर्थात् आत्मारूपी घर में सदा कर्मों को लाता रहता है, ऐसा मन जब तक जीवित रहता है, तब तक मुनियों को कल्याण की प्राप्ति कहाँ से हो सकती है ? अर्थात् कल्याण की प्राप्ति नहीं हो सकती। ओहोहो ! मन में अस्थिरता का भी खेद है। प्रभु! पूरा वीतराग निर्विकल्प स्वभाव से परिणमता तत्त्व, इसमें ये क्या ? ऐसे आलोचन करके, उससे हटकर स्वभाव की ओर आना चाहते हैं।

मोह के नाश हेतु प्रार्थना :—

१५. अर्थ : मेरा मन, निर्मल तथा शुद्ध अखण्डज्ञानस्वरूप आप में लगाने पर भी मृत्यु तो आनी ही है - ऐसे विकल्प द्वारा, आपसे बाह्य समस्त पदार्थों में ही निरन्तर घूमता-फिरता है। मन को ऐसा होता है कि यदि ये अन्दर गया, ये जायेगा तो

मुझे मार डालेगा, इसलिए बाहर फिरता रहूँगा, तो जीवित तो रहूँगा। विकल्प, विकल्प। हे स्वामिन्! तो क्या करना? क्योंकि इस जगत में मोहवशात् किसे मृत्यु का भय नहीं है? सबको है; अतः यह सविनय प्रार्थना है कि समस्त प्रकार के अनर्थों को करनेवाला तथा अहितकारी मेरे मोह को नष्ट करो।

भावार्थ : जब तक मोह का सम्बन्ध आत्मा के साथ रहेगा, तब तक मेरा चित्त, बाह्य पदार्थों में घूमता ही रहेगा और जब तक चित्त घूमता रहेगा, तब तक सदा आत्मा में कर्मों का आवागमन भी लगा ही रहेगा; इस प्रकार से आत्मा सदा व्याकुल ही रहेगा, इसलिए हे भगवन्! इस प्रकार के अनर्थों के करनेवाले मेरे मोह को नष्ट करो, जिससे मेरी आत्मा को शान्ति मिले।

सर्व कर्मों में मोह ही बलवान है - ऐसा आचार्य दर्शाते हैं:—

१६. अर्थ : ज्ञानावरण आदि समस्त कर्मों में मोहकर्म ही अत्यन्त बलवान कर्म है... निमित्त की बात है। भावकर्म है, वह बलवान है। इसी मोह के प्रभाव से यह मन जहाँ-तहाँ चंचल होकर भ्रमण करता है और मरण से डरता है... देखो! मन, मृत्यु से डरता है। यदि यह मोह न होवे तो निश्चयनय से न तो कोई जीवे और न कोई मरे क्योंकि आपने जो इस जगत को अनेक प्रकार से देखा है, वह पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से देखा है। विविध प्रकार की अवस्थाओं को देखा, वह तो पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से देखा है... विविध प्रकार की अवस्था को देखा, वह तो पर्यायनय से है। द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से नहीं... द्रव्य से तो वस्तु ऐसी की ऐसी ध्रुव है। इसलिए हे जिनेन्द्र! इस मेरे मोह को ही सर्वथा नष्ट कीजिए।

परसंयोग को अध्रुव जानकर, उससे हटकर, एक ध्रुव आत्मस्वभाव में स्थित होने की भावना:—

१७. अर्थ : पवन कर व्याप्त समुद्र की क्षणिक जल लहरों के समूह के समान सर्व काल तथा सर्व क्षेत्रों में यह जगत क्षणभर में विनाशीक है... पर्याय क्षण में बदल जाती है, वैसे। ऐसा भलीभाँति विचारकर यह मेरा मन समस्त संसार के उत्पन्न करनेवाले जो व्यापार (प्रवृत्ति), उनसे रहित होकर, हे जिनेन्द्र! आपके

निर्विकार परमानन्दमय परब्रह्मस्वरूप में स्थिर होने की इच्छा करता है। ध्रुव में स्थिर होने की ही भावना करते हैं।

शुभ-अशुभ उपयोग से हटकर, शुद्ध उपयोग में निवास की भावना:—

देखो! वर्तमान मुनि की बात है, हों! शुद्ध उपयोग अभी नहीं होता - ऐसा नहीं है, ऐसा कहते हैं, देखो!

१८. अर्थ : जिस समय अशुभ उपयोग वर्तता है, उस समय तो पाप की उत्पत्ति होती है तथा उस पाप से जीव नाना प्रकार के दुःखों को अनुभवते हैं और जिस समय शुभ उपयोग वर्तता है, उस समय पुण्य की उत्पत्ति होती है। संवर-निर्जरा, शुभ में नहीं है। और उस पुण्य से जीवों को सुख प्राप्त होता है। आज लेख तो काफी बहुत आया है। अरे..! विचारो रे विचारो! तोते की तरह, तोते की तरह रटता रहता है। ऐसा दाखिला दिया है, एक तोता बैठा था, उसको कहा, उड़ जा, उड़ जा, (तो सुनकर) उड़ जा-उड़ जा सीख लिया। कोई मारने आया तो भी उड़े नहीं। इस तरह आप तोते की तरह बोला करते हो, पुण्य विष्टा, पुण्य विष्टा, पुण्य विष्टा... और करते तो रहते हो, ऐसा कहते हैं। अरे...! भक्ति, पूजा का भाव आये बिना रहता नहीं, सुन तो सही। दृष्टि में इसका आदर नहीं होता। अस्थिरता के पाप से हटकर पुण्यभाव आये बिना रहते नहीं। इसे दृष्टि और वस्तु का पता नहीं है।

और उस पुण्य से जीव को सुख मिलता है... सुख अर्थात् अनुकूल संयोग, हों! ये दोनों पाप-पुण्यरूपी द्वन्द्व संसार के ही कारण हैं अर्थात् इन दोनों से सदा संसार ही उत्पन्न होता है, किन्तु शुद्धोपयोग से अविनाशी तथा आनन्दस्वरूपपद की प्राप्ति होती है... ये श्लोकों के अर्थ हैं, हों! घर के (बनाये हुए) नहीं हैं। पद्मनन्दि पंचविंशति का ये नौवाँ अधिकार, इसके श्लोक के ही ये अर्थ हैं। ये अपने कहते हैं न! इसमें अपना घर का तो नहीं लिखा न? हिम्मतभाई ने या किसी ने डाला हुआ? हे अरहन्त प्रभो! आप तो उस पद में निवास कर रहे हैं किन्तु मैं उस शुद्धोपयोगरूप पद में निवास करना चाहता हूँ।

आत्मस्वरूप का नास्ति से और अस्ति से वर्णन:—

१९. अर्थ - जो आत्मस्वरूप-ज्योति... भगवान चैतन्य ज्योति, न तो भीतर

स्थित है और न बाहिर स्थित है तथा न दिशा में ही स्थित है और न विदिशा में ही स्थित है; तथा न स्थूल है, न सूक्ष्म है, वह आत्मज्योति तेज न तो पुल्लिंग है और न स्त्रीलिंग है तथा नपुंसकलिंग भी नहीं है और न भारी है और न हलका है.. आत्मज्योति। तथा वह ज्योति कर्म, स्पर्श, शरीर, गंध, संख्या, वचन वर्ण से रहित है; और निर्मल है तथा सम्यग्ज्ञानदर्शनस्वरूप मूर्ति है; उस उत्कृष्ट ज्योतिस्वरूप में हूँ... रागादि में नहीं; मैं तो उत्कृष्ट चैतन्य ज्योतिस्वरूप हूँ। किन्तु उस उत्कृष्ट आत्मस्वरूप ज्योति से भिन्न नहीं हूँ। उत्कृष्ट आत्मस्वरूप-ज्योति स्वभाव, इससे मैं भिन्न नहीं हूँ।

त्रिकाली आत्मा की शक्ति :—

२०. अर्थ : हे भगवन्! चैतन्य की उन्नति को नाश करनेवाले और बिना कारण ही सदा वैरी, इस दुष्टकर्म ने आप में तथा मुझ में भेद डाल दिया है... प्रभु! किन्तु कर्मशून्य अवस्था में जैसा आपका आत्मा है, वैसा ही मेरा आत्मा है। इस समय यह कर्म और मैं आपके सामने खड़े हैं; इसलिए इस दुष्ट को हटाकर दूर करो... अर्थात् मैं ज्ञाता हूँ और ये रागादि हैं - ऐसा विवेक वर्तता है; इसलिए उसका नाश करता हूँ। आप इसे नष्ट करें, ऐसा कहने में आता है। आपके सामने खड़े हैं; इसलिए इस दुष्ट कर्म को हटाकर दूर करो क्योंकि नीतिवान् प्रभुओं का तो यह धर्म है कि वे सज्जनों की रक्षा करें तथा दुष्टों का नाश करें। आता है न 'गीता' में? कि भक्तों की भीड़ (तकलीफें) दूर करने भगवान् अवतार लेते हैं, राक्षसों का नाश करते हैं। वैसे नहीं, यह भाई! यह सत् जन अर्थात् सत्स्वरूप भगवान् आत्मा, इसका तो ऐसा नीतिमान लोकोत्तर चैतन्य की नीति का धर्म ऐसा है कि सज्जनों की रक्षा करे, स्वभाव की शान्ति की रक्षा करे और विभावरूपी राक्षसों का नाश करे।

आत्मा का अविकारी स्वरूप:—

२१. अर्थ : हे भगवन्! नाना प्रकार के आकार तथा विकारों को करनेवाले मेघ आकाश में रहते हुए भी जिस प्रकार आकाश के स्वरूप का कुछ भी हेरफेर नहीं कर सकते; उसी प्रकार आधि (अर्थात् संकल्प-विकल्प), व्याधि (अर्थात् रोग), जरा, मरण आदि भी मेरे स्वरूप का कुछ भी हेरफेर नहीं कर सकते। कुछ

नहीं कर सकते... कर नहीं सकते। क्योंकि ये समस्त शरीर के विकार हैं... देखो! ये संकल्प-विकल्प, शरीर का रोग और बाह्य जन्म-मरण ये सब शरीर के बदलाव हैं, जड़ हैं, मेरे में हैं नहीं।

स्व में सुख और पर में दुःख:—

२२. अर्थ : जैसे मछली पानीरहित भूमि पर पड़ने से तड़पकर दुःखी होती है, वैसे मैं भी (आपकी शीतल छाया बिना) नाना प्रकार के दुःखों से भरपूर संसार में सदा जल-बल रहा हूँ। जैसे वह मछली जब जल में रहती है, तब सुखी रहती है; वैसे ही जब तक मेरा मन आपके करुणारसपूर्ण (आनन्दरसपूर्ण) अत्यन्त शीतल चरणों में प्रविष्ट रहता है, तब तक मैं भी सुखी रहता हूँ; इसलिए हे नाथ! मेरा मन आपके चरण-कमल छोड़कर अन्य स्थल कि जहाँ मैं दुःखी होऊँ, वहाँ प्रवेश न करे, यह प्रार्थना है। कितनी आलोचना! कैसी आलोचना! अनाकुल, आनन्दमूर्ति में से हट न जाऊँ और हटे तो दुःखरूप दशा हो जाती है; इसलिए उस दुःख में न आऊँ और आपके समीप में रहूँ, अर्थात् स्वभाव-समीप में रहूँ।

आत्मा और कर्म की भिन्नता:—

२३. अर्थ : हे भगवन्! इन्द्रियों से समूहकर सहित जो मेरा मन बाह्य पदार्थों से सम्बन्ध करता है, उसी से नाना प्रकार के कर्म मेरी आत्मा के साथ बँधते हैं किन्तु वास्तविक रीति से मैं उन कर्मों से सर्व काल में तथा सर्व क्षेत्र में जुदा ही हूँ तथा आपके भी चैतन्य से भी सर्वथा वे कर्म जुदे ही हैं अथवा उस चैतन्य से कर्मों के भेद करने में आप ही कारण हैं। स्वभाव ही कारण है। इसलिए हे शुद्धात्मन्! हे जिनेन्द्र! निश्चय से मेरी स्थिति आप में ही है। निश्चयपूर्वक मैं वीतराग परिणाम में ही हूँ, मैं राग-बाग में हूँ नहीं।

धर्मी की अन्तर भावना:—

२४. अर्थ : हे आत्मन्! न तो तुझे लोक से काम है और न दूसरे के आश्रय से काम है तथा न तुझे द्रव्य (लक्ष्मी) से प्रयोजन है और न शरीर से प्रयोजन है तथा तुझे वचन और इन्द्रियों से भी कुछ काम नहीं और दश प्राणों से भी प्रयोजन नहीं...

लीजिए। पाँच इन्द्रिय का काम नहीं है, तीन बल, श्वास और आयुष्य। नाना प्रकार के विकल्पों से भी कुछ काम नहीं क्योंकि ये समस्त पुद्गलद्रव्य का ही पर्याय हैं... लो! पुण्य-पाप के परिणाम सब पुद्गल के परिणाम हैं, मेरे नहीं। प्रभु! मेरे में यदि हो तो निकल कैसे जाये? और तेरे से भिन्न है तो भी बड़े खेद की बात है कि तू इनको अपना मानकर आश्रय करता है सो क्या तू दृढ़ बंधन को प्राप्त नहीं होगा? उसका आश्रय करेगा तो जरूर बँधेगा, इसलिए आश्रय मत करना।

भेदविज्ञान द्वारा आत्मा में से विकार का नाश:—

२५. अर्थ : धर्मद्रव्य... धर्मास्ति एक पदार्थ है। अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य, कालद्रव्य, ये चारों द्रव्य मेरे किसी प्रकार के अहित को नहीं करते हैं किन्तु ये चारों द्रव्य गति, स्थिति आदि कार्यों में मुझे सहकारी हैं... निमित्त। इसलिए वे मेरे सहायक होकर ही रहते हैं... परन्तु एक ये पुद्गलद्रव्य नोकर्म (तीन शरीर छह पर्याप्ति) तथा कर्म हैं स्वरूप जिसका, ऐसा तथा समीप में रहनेवाला और बन्ध का करनेवाला एक पुद्गलद्रव्य ही मेरा बैरी है; इसलिए उसी के इस समय मैंने भेदरूपी तलवार से खण्ड-खण्ड उड़ा दिये हैं। (वास्तविक बैरी तो अपना अशुद्धभाव है)। यह तो आपने सुधारा है। अशुद्धभाव है, सो बैरी है, वह कर्म है—ऐसा कहने में आता है।

राग-द्वेष का त्याग:—

२६. अर्थ : जीवों के नाना प्रकार के राग-द्वेषों के करनेवाले परिणामों से जिस प्रकार पुद्गलद्रव्य परिणामित होता है, उसी प्रकार धर्म, अधर्म, आकाश, तथा काल ये चार अमूर्तिकद्रव्य, राग-द्वेष के करनेवाले परिणामों से परिणामित नहीं होते तथा उस राग-द्वेष के द्वारा प्रबलकर्मों की उत्पत्ति होती है और उस कर्म से संसार खड़ा होता है तथा संसार में नाना प्रकार के दुःख भोगने पड़ते हैं; इसलिए कल्याण की अभिलाषा करनेवाले सज्जनों को चाहिए कि वे राग तथा द्वेष को सर्वथा छोड़ना चाहिए। कल्याण की इच्छा हो तो छोड़ना, ऐसा कहते हैं।

आनन्दस्वरूप शुद्धात्मा का ध्यान और मनन:—

२७. अर्थ : हे मन! बाह्य तथा तुझसे भिन्न जो स्त्री-पुत्र आदि पदार्थ हैं, उन

में राग-द्वेषस्वरूप अनेक प्रकार के विकल्पों को करके क्यों दुःख के लिये तू व्यर्थ अशुभ कर्म को बाँधता है ? यदि तू आनन्दरूपी जल के समुद्र में शुद्धात्मा को पाकर उसमें निवास करेगा तो तू विस्तीर्ण निर्वाणरूपी सुख को अवश्य प्राप्त करेगा; इसलिए तुझे आनन्दस्वरूप शुद्ध आत्मा में ही निवास करना चाहिए और उसी का ही ध्यान तथा मनन करना चाहिए।

आत्मा मध्यस्थ / साक्षी है:—

२८. अर्थ : हे जिनेन्द्र! आपके चरणकमलों की कृपा से पूर्वोक्त बातों को सम्यक् प्रकार से मन में विचार कर जिस समय यह प्राणी शुद्धि के लिये अध्यात्मरूपी तुला (तखड़ी) चढ़ता है... शुद्ध आत्मा में जहाँ अन्दर जाना चाहता है... उस समय उसको दोषी बनाने के लिये कर्म रूपी भयंकर बैरी सामने पलड़े में मौजूद है, इसलिए हे भगवन्! ऐसे प्रसंग में आप ही मध्यस्थ साक्षी हैं। यह राग है और यह स्वभाव है इसका साक्षी ज्ञाता आत्मा है। उसे जाननेवाला भगवान आत्मा स्वयं है।

अब विकल्पस्वरूप ध्यान तो संसारस्वरूप है और निर्विकल्प ध्यान मोक्षस्वरूप है - ऐसा आचार्य दर्शाते हैं:—

२९. अर्थ : द्वैत / सविकल्प ध्यान तो वास्तविक रीति से संसारस्वरूप है... कहते हैं कि ये सविकल्प — गुण-गुणी के भेदरूप विकल्प भी संसारस्वरूप हैं। आहाहा! भगवान, यह गुणी और इसमें रहनेवाले यह गुण — ऐसा भेदविकल्प भी उदयभाव संसार है। वास्तविकरूप से संसारस्वरूप ही वह है। तथा अद्वैत (निर्विकल्प) ध्यान मोक्षस्वरूप है। अकेला भगवान ज्ञायकस्वभाव, उसकी निर्विकल्पता से एकाग्रपना वही मोक्षस्वरूप है। यह दोनों व्याख्या (की है)। संसार तथा मोक्ष में प्राप्त होती उत्कृष्ट दशा का यह संक्षेप से कथन है... लो! संसार और मोक्ष में प्राप्त होती उत्कृष्ट दशा का यह संक्षिप्त कथन है। शुभाशुभपरिणाम, वह संसार और भगवान का निर्विकल्प ध्यान, वह मोक्षस्वरूप। अभी तो इसके ही बड़े झगड़े चलते हैं न ?

जो मनुष्य, पूर्वोक्त दोनों में से प्रथम द्वैतपद से धीरे-धीरे परान्मुख होकर अद्वैतपद का आलम्बन... अद्वैत, अर्थात् आत्मा, हों! अद्वैत, अर्थात् सब होकर एक

आत्मा - ऐसा नहीं। राग-द्वेष से युक्त, विकारयुक्त वह विकल्प; और निर्विकारी आत्मा का एकत्व है। समझ में आया ? अद्वैतपद का आलम्बन करता है, वह पुरुष निश्चयनय से नामरहित हो जाता है और वह पुरुष व्यवहारनय से... उसे ऐसे भगवान आत्मा को ब्रह्मा, विधाता आदि नाम से सम्बोधित किया जाता है। ब्रह्मा, विष्णु दूसरी कोई चीज नहीं है; भगवान आत्मा की पूर्ण शुद्धता को ब्रह्मा, विष्णु आदि कहा जाता है।

दृढ़ श्रद्धा की महिमा:—

३०. अर्थ : हे केवलज्ञानरूप नेत्रों के धारक जिनेश्वर! मोक्ष प्राप्त करने के लिये आपने जो चारित्र का वर्णन किया है, वह चारित्र तो इस विषम कलिकाल में (दुषम पंचम काल में) मेरे जैसे मनुष्य बहुत कठिनता से धारण कर सकते हैं परन्तु पूर्वोपार्जित पुण्यों से आपमें मेरी जो दृढ़ भक्ति है... पुण्य से ही भक्ति है - ऐसा नहीं, हों ! वह तो मेरे पुरुषार्थ के संस्कार से मुझमें जो दृढ़ता है। वह भक्ति ही, हे जिन! मुझे संसाररूप समुद्र से पार उतारने में नौका समान होओ... मुझे संसारसमुद्र से यह भक्ति ही पार उतार सकेगी। ऐसा कहकर कहते हैं कि चारित्र की जो निर्मलता चाहिए, उतनी नहीं, परन्तु हमारे ध्यान में आत्मा पूर्णानन्द है—ऐसी हमें प्रतीति और भक्ति निश्चय वर्तती है, वही हमें पूर्णानन्द की प्राप्ति का उपाय है। नौका है, यही नौका संसार के समुद्र को पार कर लेगी।

भावार्थ : कर्मों का नाश किये बिना मोक्ष प्राप्ति नहीं हो सकती और कर्मों का नाश तो आपके द्वारा वर्णित चारित्र (तप) से होता है... चारित्र अर्थात् मुनिपना। हे भगवन्! शक्ति के अभाव से इस पंचम काल में मेरे जैसा मनुष्य... देखो ! आचार्य महासमर्थ छठे गुणस्थान में मुनि हैं। वह तप नहीं कर सकता... आहाहा ! इसलिए हे परमात्मा ! मेरी यह प्रार्थना है कि सद्भाग्य से आपमें मेरी जो दृढ़भक्ति है, उससे मेरे कर्म नष्ट हो जाओ और मुझे मोक्ष की प्राप्ति होओ।

मोक्षपद की प्राप्ति के लिए प्रार्थना:—

३१. अर्थ - इस संसार में भ्रमण करके मैंने इन्द्रपना... इन्द्रपना अर्थात् यह अहमिन्द्र आदि। मूल इन्द्रपना जो है, वह तो अनादि में भी नहीं मिलता। निगोदपना और

दोनों के बीच की अन्य समस्त प्रकार की योनियाँ भी अनन्त बार प्राप्त की हैं; इसलिए उन पदवियों में से कोई भी पदवी मेरे लिये अपूर्व नहीं है। नयी नहीं है, अनन्त बार मिल चुकी है। किन्तु मोक्षपद को देनेवाले सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र के एक्य की पदवी जो अपूर्व है, वह अभी तक प्राप्त नहीं हुई, इसलिए हे देव! मेरी सविनय प्रार्थना है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र की पदवी ही पूर्ण करो। बस! तीन तो हैं (अब) पूर्ण करो। वे अपूर्व है, बाकी तो अनन्त बार देव-देवियाँ, बड़ा इन्द्र, नौवें ग्रैवेयक में अहमिन्द्र अनन्त बार हुआ, उसमें कुछ नवीन और अपूर्वता नहीं है। अरबोंपति अनन्त बार हुआ, वह कोई नवीन और अपूर्वता नहीं है। बराबर होगा ?

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : किसका नवीन ? क्या मिला ? धूल। अरबोंपति हुआ, वह कोई नवीन है ? अनन्त बार हुआ है।

मुमुक्षु : नवीन मिला...

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या नवीन मिला ? कुछ नवीन नहीं मिला, वह का वही है। आत्मा मिले, वह नवीन है। आत्मा में आनन्द की प्राप्ति और पूर्णानन्द की प्राप्ति अपूर्व अनन्त काल में नहीं मिली। अपूर्व लब्धि वह है। यह तो सब धूल है। अनन्त बार मिली ऐसा कहते हैं। भव अनन्त बार हुए, उसमें मेरे लिये कुछ नवीन नहीं है।

मुमुक्षु की मोक्षप्राप्ति के लिए दृढ़ता:—

३२. अर्थ : बाह्य (अतिशय आदि) तथा अभ्यन्तर (केवलज्ञान-केवलदर्शन आदि) लक्ष्मी से शोभित वीरनाथ भगवान ने.... उनके गुरु भी ये हैं और वीरनाथ भगवान। अपने प्रसन्नचित्त से सर्वोच्च पदवी की प्राप्ति के लिए मेरे चित्त में उपदेश की जो जमावट की है.... आहाहा ! तू शुद्धात्मा है—ऐसा मेरे गुरु ने और तीर्थकरों ने जो अनादि का मुझे कहा है। उस उपदेश के समक्ष क्षणभर में विनाशी, ऐसा पृथ्वी का राज्य मुझे प्रिय नहीं है... क्या कहते हैं ? क्योंकि हम पंचम काल के मुनि हैं, ख्याल है कि यहाँ से राग से पुण्य बँधकर स्वर्ग में जाऊँगा। उसका निषेध करते जाते हैं। अन्तिम

गाथाएँ हैं न! पृथ्वी का राज मुझे प्रिय नहीं है तो फिर स्वर्ग का देव होऊँगा, अमुक होगा, वह हमें प्रिय है नहीं।

यह बात तो दूर रही, परन्तु प्रभो! हे जिनेश! उस उपदेश के समक्ष तीन लोक का राज भी मुझे प्रिय नहीं है। समझ में आया? तीन लोक के पूजनीय तीर्थकर की बाहर की पदवी मिले, वह नहीं; मुझे तो केवलज्ञानघन होना है। बाहर में लोग पूजें और मानें — ऐसी पुण्य के फल की स्थिति होवे, उसका मुझे कुछ काम नहीं है। आहाहा! मृत्यु के काल में अन्त में इस प्रकार चटपटी करते स्वर्ग में चले जाते हैं। निषेध, निषेध... पुण्य के परिणाम का निषेध, उसके फल का निषेध, स्वर्ग का निषेध (करते हैं)।

भावार्थ : यद्यपि संसार में पृथ्वी का राज्य और तीन लोक के राज्य की प्राप्ति एक उत्तम बात गिनी जाती है परन्तु हे प्रभो!... अर्ध लोक के स्वामी होते हैं न देव? वीरनाथ भगवान ने (वीरनन्दि गुरु ने) प्रसन्नचित्त से मुझे जो उपदेश दिया है उस उपदेश के प्रति प्रेम के समक्ष.... देखो! उपदेश में कहे हुए भाव के प्रेम के समक्ष ये दोनों बातें मुझे इष्ट नहीं लगती; इसलिए मैं आपके उपदेश का ही प्रेमी हूँ। अन्तिम तैतीस गाथा। भाषा तो देखो! एक तो नौवाँ अधिकार और गाथा तैतीस। अकेली वीतरागता का वर्णन! नौ को अफर अंक और तैतीस गाथा। कहते हैं कि ऐसे स्वभाव का लक्ष्य करके परमात्मा के समीप ऐसी आलोचना जो करता है।

३३. अर्थ : श्रद्धा से जिसका शरीर नम्रीभूत है... आहाहा! अकड़-फकड़ नहीं ऐसा कुछ.... प्रभु! ऐसी विनय है, परमात्मा के समक्ष नम्रीभूत हो गया है। ऐसा जो मनुष्य, श्री पद्मनन्दि आचार्य द्वारा रचित आलोचना नाम की कृति को तीन (प्रातः, मध्याह्न, सायंकाल) श्री अरहन्त प्रभु के सामने पढ़ता है... उनके ज्ञान का साक्षी अन्दर में रखकर कहता है, मानो वह बुद्धिमान ऐसे उच्च पद को प्राप्त होता है कि जो पद बड़े-बड़े मुनि चिरकालपर्यन्त... बाह्य व्यवहार लिंग आदि। तप द्वारा घोर प्रयत्न से पा सकते हैं। ऐसा पद ज्ञातादृष्टा के भाव से प्राप्त हो सकता है।

भावार्थ : जो मनुष्य (स्वभाव के भानसहित)... देखो! स्वभाव के भानसहित। प्रातःकाल मध्याह्न काल तथा सायं काल तीनों कालों में श्री अरहन्तदेव के सामने

आलोचना का पाठ करता है, वह शीघ्र मोक्ष प्राप्त करता है... भगवान! परन्तु पंचम काल में तो मोक्ष नहीं है और जहाँ-तहाँ मोक्ष-मोक्ष की बातें! सुन न! आत्मा पर से पृथक् पड़ा, वह उसे मोक्ष ही है। हे नाथ! तीनों काल श्री अरहन्तदेव के सामने आलोचना का पाठ करता है, वह शीघ्र मोक्ष को प्राप्त करता है; इसलिए मोक्षाभिलाषियों को... छूटने के अभिलाषियों को; बँधने के अभिलाषियों को हमारा यह उपदेश नहीं है। छूटने के अभिलाषी श्री अरहन्तदेव के सामने श्री पद्मनन्दि आचार्य द्वारा रचित आलोचना नामक कृति का पाठ तीनों काल अवश्यमेव करना चाहिए। अर्थात् सुबह, शाम आत्मा, पर से भिन्न है—ऐसा भान बारम्बार रखना। उसके भान द्वारा ही उसकी आलोचना होती है और उस भान द्वारा ही उसकी मुक्ति होती है; दूसरा कोई उसका उपाय नहीं है।

यह आलोचना-अध्यात्म आलोचना है। यह अलौकिक आलोचना सभा में बत्तीसवीं बार स्वाध्याय हुआ है। एक बार सम्प्रदाय में पढ़ा था। इकतीस साल यहाँ हुए। यह बत्तीसवाँ बार। भाई! सुनी थी कभी? पढ़ी नहीं? यह अध्यात्म आलोचना, अध्यात्म शब्द से, सर्वज्ञ परमात्मा का स्वभाव (है), ऐसा मेरा स्वभाव (है)—ऐसा दृष्टि में रखकर, सरलरूप से निःशल्य होकर ऐसे विकार आदि परिणाम को देखे; देखे उसे टले बिना रहे नहीं। उसका नाम आलोचना और प्रायश्चित। उसका नाम मिच्छामि दुक्कड्म कहने में आता है। दूसरे कहते हैं न कि मिच्छामि दुक्कड्म। वह मिच्छामि दुक्कड्म ऐसे हाथ जोड़कर नहीं। यह मेरा स्वभाव और यह विपरीत भाव, दोनों का विवेक करके उसे मिथ्या करना, स्वभाव की एकता करना, इसका नाम आलोचना और प्रायश्चित कहा जाता है।
३३ वीं गाथा पूरी हुई। (श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव!)